THE TIMES OF INDIA

Date: 14-12-17

Ban, mandatory, compulsory

Three vile words increasingly define the modus operandi of India's ruling politicians

Ravi Shanker Kapoor, [the writer is a freelance journalist.]

Something is rotten in the statecraft of India. Nothing else explains why three words – 'ban,' 'mandatory,' and 'compulsory' – are most widely used in not only governance and politics but also in public discourse. And not just the words; bans and mandatory requirements are also increasingly becoming a reality in what is supposedly the biggest democracy of the world.In general, whether the objective is to address an urgent issue (like the deadly smog in Delhi), implement policy (for instance, ending corruption), or further an ideological agenda (eg, Hindutva), the favoured modus operandi comprises the three words – ban, mandatory, and compulsory.

The formulaic, quintessential Left-liberal explanation for this is simple: under Prime Minister Narendra Modi, the fascist proclivities of Hindutva are asserting themselves; hence the increasing use of coercive measures. QED.But Modi didn't invent coercion, mandatory measures and other illiberal practices. For instance, the draconian Section 66A was added to the Information Technology Act by the Congress-led United Progressive Alliance government; the incumbent regime supported it in the court, though.

While Section 66A was debated when it was in force and extensively discussed when the Supreme Court invalidated it two years ago, an insidiously illiberal action of the UPA government did not arouse the indignation of public intellectuals – mandatory corporate social responsibility (CSR) spending by big corporations. Business chambers, of course, made some fuss about the 'practical problems' with its implementation, but the unprecedented insidiousness of the measure – the colonisation of conscience – largely went unnoticed. Seldom, if ever, in the past did statism strive to mould the conscience of businesspersons in accordance with the country's economic policy in this fashion, anywhere in the world.

It was also under UPA that the ministry of health and family welfare stipulated that in movies and television programmes showing tobacco use, there should be "anti-tobacco health spots or messages of minimum thirty seconds duration each at the beginning and middle of the film or the television programme." Also, there should be "anti-tobacco health warning as a prominent scroll at the bottom of the screen during the period of such display." Quite apart from infringement of consumer rights – we pay to watch movies, not to suffer homilies – this was an assault on creative freedom.BJP's ideology and agenda are different from those of the grand old party. But its methodology is still defined by the three obnoxious words: ban beef, make Sanskrit and Vande Mataram compulsory in Rajasthan schools, make it mandatory for people to stand up while the national anthem is played, etc. Any resistance to and criticism of such measures is dismissed with disdain.

It is not just the established, old parties that love to force their policies and ideologies on citizens; the newcomer Aam Aadmi Party (AAP) too is little different in this regard. Of the several, and more important measures, needed to be taken to check the Delhi smog, the AAP government in Delhi remains focused on the ones that involve coercion: close the Badarpur thermal power plant, stop construction activities, shut schools and, most importantly, bring back the odd-even scheme. On the last one it has invested a lot of energy and political capital, despite the scheme's questionable efficacy.

Persuasion, discussion, debate and compromise are and should be the hallmarks of a liberal democracy. If the champions of Hindutva are convinced about their ideology they should be persuading people to give up beef, to stand up when the national anthem is played, to learn Sanskrit, to know about the glories of ancient India, and so on. Similarly, the leaders of the grand old party should have impressed upon corporate bosses to earmark larger sums for CSR activities; it should have started more effective campaigns to dissuade people from smoking.But our leaders, especially when in power, are not interested in persuasion, discussion, etc. Why persuade when you can bulldoze them? Why coax when you can coerce them?One would have expected that after liberalisation in 1991, the presence of the state would become less onerous and less odious in the economy in particular and the country in general. That was, however, not to be; if anything, it has increased.

Why is it so? The primary reason is that governance, which is essentially a process involving a great deal of assiduity and patience, has been reduced to a hodgepodge of events, rhetoric, and clever messaging. The announcement of a programme is an event; and, when accompanied with pageantry, it becomes more tweetable and newsworthy. A ban or making something compulsory is an even bigger event, bringing in far more publicity.

Further, convincing people that a movie or book is bad, misleading, and mischievous involves a lot of effort and time; at any rate, one is unlikely to convince everybody about the wrongness of the movie or book. The ban, however, ensures that everybody would be kept away from the supposed abomination.That individual liberty becomes a casualty in the adoption of coercive policies is of no concern to our political masters; it is doubtful if they regard it as collateral damage, or even as something whose loss is worth mourning.That is the real tragedy: freedom faces death by a thousand cuts, and those who matter are not bothered; often they are accomplices of the tormentors.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 14-12-17

अंडमान और निकोबार में सैन्य क्षमता है अपार

भारत अंडमान और निकोबार द्वीप समूह पर अपनी सैन्य मौजूदगी बढ़ाकर इसे इस क्षेत्र में अपनी क्षमताओं के प्रदर्शन का केंद्र बना सकता है।

प्रेमवीर दास

बीते कुछ दिनों में सशस्त्र बलों ने अंडमान और निकोबार द्वीप समूह के निकट त्रिपक्षीय संयुक्त सैन्य अभ्यास किया। देश के इस हिस्से की रक्षा के लिए ऐसी कवायद नयी नहीं हैं। बीते कई दशकों से इनका आयोजन किया जा रहा है। परंतु इनके दायरे में अवश्य बदलाव आया है। कमांडो द्वारा रात को सरकने की कवायद और आधुनिक विमानों और युद्धपोतों को इसमें शामिल करने का क्रम बढ़ रहा है।बहरहाल इस क्षेत्र को अज्ञात चुनौतियों से बचाना अभी भी इन कवायदों की घोषित वजह है। उदाहरण के लिए एक कवायद इस पर आधारित थी कि अगर शत्रु इस क्षेत्र के किसी द्वीप पर कब्जा कर ले तो उसे वापस कैसे हासिल किया जाए। अपनी सामरिक मजबूती के प्रति यह रक्षात्मक रुख पुनरावलोकन की मांग करता है।बंगाल की खाड़ी में उत्तर से दक्षिण तक 550 मील तक विस्तारित और कोलकाता, विशाखापत्तनम और चेन्नई जैसे प्रमुख बंदरगाहों से 700 मील की दूरी पर स्थित सैकड़ों छोटे-छोटे द्वीपों से बना अंडमान और निकोबार द्वीप समूह एक ऐसी संपत्ति की तरह है जिसे महाशक्ति बनने की आकांक्षा रखने वाला कोई भी देश खूब मान देगा। इसके दक्षिण में महज 90 मील की दूरी पर इंडोनेशिया है जबकि बांग्लादेश, म्यांमार, थाईलैंड और मलेशिया जैसे देश उत्तर और पूर्व में 300 मील के दायरे में हैं।

जाहिर है यह द्वीप समूह न केवल हमारी पहुंच बढ़ाता है बल्कि हिंद महासागर के प्रमुख पूर्व-पश्चिम नौवहन मार्ग को भी विस्तारित करता है। यह हिंद महासागर क्षेत्र को पश्चिमी प्रशांत सागर से जोड़ने वाली मलक्का की खाड़ी की भी निगरानी करता है। इसके अतिरिक्त यह उत्तर से दक्षिण तक विस्तृत छह बंदरगाहों की निगरानी, वायु सेना की तैनाती, और इस क्षेत्र की सुरक्षा की दृष्टि से सामरिक क्षमता भी रखता है। ऐसे में भारत द्वारा इन तमाम क्षेत्रों का पूरा लाभ न ले पाना निराश करता है।उत्तर में पोर्ट कॉर्नवालिस/दिगलीपुर, मध्य में पोर्ट ब्लेयर और दक्षिण में नानकॉवरी और कैंपबेल बे आदि हमारी नौसेना के विशाल पोतों की संभाल कर सकते हैं। पुराना विमान वाहक पोत आईएनएस विक्रांत सन 1971 के युद्ध के समय उस वक्त भी उत्तरी बंदरगाहों से तैनात किया गया था जबकि पाकिस्तानी पनडुब्बी गाजी चेन्नई और विशाखापत्तनम के निकट इसे तलाश करते हुए डूब गई थी।

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान जापानियों ने इन द्वीपों पर कब्जा कर लिया था और पोर्ट ब्लेयर, कार निकोबार और नानकॉवरी से उनकी सेनाएं अपनी गतिविधियां चलाती थीं। उस वक्त केवल कार निकोबार में एक ही भरोसेमंद हवाई पट्टी थी जिसकी लंबाई 7,000 फुट थी। पोर्ट ब्लेयर की हवाई पट्टी बहुत छोटी थी।अब हालात सुधर चुके हैं। पोर्ट ब्लेयर में अब 10,000 फुट लंबी हवाई पट्टी है जिससे क्षमता में काफी सुधार हुआ है। पोर्ट ब्लेयर और कार निकोबार से अब अपेक्षाकृत बड़े विमान और भारतीय वायु सेना के लड़ाकू विमान संचालित हो सकते हैं। हालांकि अंडमान निकोबार द्वीप समूह में इनकी तैनाती नहीं है।देश के प्रमुख भूभाग से सी 130जे, सी 17 और पी81 विमानों को अंडमान और निकोबार पहुंचने और वहां से वापस आने में तीन घंटे का समय लगता है। इससे उनकी मजबूती प्रभावित होती है। इस देरी की वजह से उनकी काम पर तैनाती में भी देरी होती है। विमान यहां उतरकर ईंधन भर सकते हैं लेकिन वे जल्दी काम पर तभी लग सकते हैं जब उन्हें यहां खड़ा रखने की व्यवस्था हो। यह कहा जा सकता है कि हमारी मौजूदा क्षमताओं को देखते हुए बड़े और प्रमुख विमानों को अंडमान और निकोबार में नहीं तैनात किया जा सकता है। परंतु आज नहीं तो कल हमें चुनौतियों का आकलन करते हुए इस पर विचार करना ही होगा।इन तमाम बातों के बावजूद ऐसी कोई वजह नहीं है

कि पोर्ट ब्लेयर और कार निकोबार में जमीनी उपकरणों को क्यों नहीं स्थापित किया जाए। ऐसा करने से ये हवाई क्षेत्र तत्काल सेवा देने के लिए उपलब्ध होंगे।

कैंपबेल बे की मौजूदा हवाई पट्टी जो अभी 2,700 फुट लंबी है उसे बढ़ाकर कम से कम 8,000 फुट करने की आवश्यकता है ताकि यहां से बड़े विमानों का परिचालन आरंभ हो सके। इससे मलक्का की खाड़ी और आसपास के इलाकों की व्यापक निगरानी संभव हो सकेगी। यह वह इलाका है जहां से पानी के जहाज अनिवार्य तौर पर निकलते हैं। उत्तर में दिगलीपुर स्थित 3,000 फुट की हवाई पट्टी को बढ़ाकर 6,000 फुट किए जाने की जरूरत है ताकि मझोले आकार के विमानों का परिचालन शुरू किया जा सके।सेना ने यहां एक ब्रिगेड की तैनाती की है। एक कंपनी कैंपबेल बे में तैनात है। निकटस्थ प्रतिबद्धताओं को देखते हुए यह तैनाती पर्याप्त है। बहरहाल, नौसैनिक तैनाती के लिए कुछ व्यवस्था करनी होगी। फिलहाल पोर्ट ब्लेयर में केवल ऐसे जहाज तैनात हैं जो तट तक जा सकते हैं। कोस्ट गार्ड निगरानी जहाज के साथ इतनी तैनाती पर्याप्त है, लेकिन इनके साथ कुछ मझोले आकार के युद्ध पोत तैनात किए जाने चाहिए ताकि लड़ाकू क्षमता में इजाफा हो सके, तटवर्ती मालवहन और रखरखाव की क्षमता बढ़ाई जा सके।

क्षमता बढ़ाने की इस दलील की काट के रूप में ढुलाई क्षमता की कमी से लेकर पर्यावरण तक के मुद्दों को प्रस्तुत किया जाता है। यह सच है कि यहां लगभग हर वस्तु देश के अन्य इलाकों से ढोकर पहुंचानी होती है ताकि यहां रहने वाले तकरीबन 3.50 लाख लोग उनका इस्तेमाल कर सकें। ऐसे में इसके अलावा किसी भी तरह के भार को नकारात्मक रूप से देखा जाता है। बहरहाल अगर हम आधुनिक तकनीक की मदद से वहां की मौजूदा कृषि और समुद्री संसाधनों के बेहतर इस्तेमाल पर काम करें तो बात बन सकती है। उदाहरण के लिए इस क्षेत्र में सालाना पकड़ी जाने वाली मछलियों की तादाद और इस काम में लगे जहाजों की तादाद निहायत कम है। घनी आबादी वाले पोर्ट ब्लेयर में पानी का मसला है। लेकिन पश्चिम एशिया के कई देशों में ऐसे उदाहरण हैं जहां कुछ खास किस्म के पौधों का इस्तेमाल किया जाता है जो समुद्री पानी को मीठे पानी में बदलते हैं। समस्याएं हैं लेकिन ऐसी भी नहीं हैं कि उनसे निजात न पाई जा सके। द्वीप विकास प्राधिकरण (आईडीए) लंबे समय से है लेकिन वह बहुत प्रयास करता नहीं दिखता।अगर भारत को अहम एशियाई शक्ति बनना है तो उसे हिंद महासागर क्षेत्र में अपनी सैन्य मौजूदगी प्रदर्शित करनी होगी। बंगाल की खाड़ी उसका अहम हिस्सा है। इस लिहाज से अंडमान और निकोबार द्वीप समूह की भूमिका बेहद खास है। यह केवल बचाया जाने वाला क्षेत्र नहीं बल्कि देश का वह इलाका है जहां से वह अपनी ताकत का प्रदर्शन कर सकता है।

दैनिक भास्कर

Date: 14-12-17

देश में पारदर्शी शासन सोनिया गांधी की विरासत

विकासशील देशों के इतिहास में पहली बार भोजन, काम, शिक्षा व सूचना के अधिकार को कानूनी रूप

शशि थरूर, [विदेश मामलों की संसदीय समिति के चेयरमैन और पूर्व केंद्रीय मंत्री]

सोनिया गांधी की कहानी कहना चाह रहे उपन्यासकार को कथा में परी-कथा देखने के लिए शायद माफ कर दिया जाए। एक सुंदर विदेशी युवती अजनबी, नए देश में आती है और एक हैंडसम युवराज से विवाह करती है। दोनों बरसों पारिवारिक जीवन का लुत्फ उठाते हैं। फिर त्रासद परिस्थितियों में युवराज को राज्य के सूत्र संभालने पड़ते हैं और उसे शासन की कटु वास्तविकताओं से दो-चार होना पड़ता है। इसकी चरम परिणति उसकी खुद की हत्या की त्रासदी है। रानी शोक में डूब जाती हैं, जब तक कि दरबारियों द्वारा बार-बार किया अनुरोध उन्हें शोक से उबरकर राज्य के सूत्र अपने हाथों में लेने पर मजबूर नहीं कर देता। एक क्लासिक कहानी लगती है : मुझे इन शब्दों से शुरू करना चाहिए था 'एक बार की बात है।' और फिर भी- कहानी में एक मोड़ है। रानी को तश्तरी में रखकर राज मुकुट पेश किया गया था पर वे ठुकरा देती हैं। वे आम लोगों के साथ चलती हैं, उन्हें एकजुट करती हैं लेकिन, सत्ता पके बालों वाले वजीरों को सौंप देती हैं। वे ऐसी परीकथा नहीं लिखते, उस महिला केलिए भी नहीं, जिन्हें किसी कठोर पर्यवेक्षक ने 'सिन्ड्रेला ऑफ ओर्बासानो' कहा था। किंतु सोनिया गांधी की कोई कौन-सी कहानी कहें? उस इटालियन नारी की जो सवा अरब भारतीयों की भूमि पर सर्वाधिक प्रभावशाली शख्सियत बनकर उभरीं? उस निर्लिप्त राजनेता की, जिसने अपनी पार्टी का नेतृत्व कर 2004 में उसे ऐसी असाधारण जीत दिलाई, जिसका अनुमान उनकी पार्टी के प्रशंसक भी नहीं लगा सकते थे? ऐसी संसदीय लीडर की बात करें, जिसने अपनाए गए देश में सर्वोच्च पद ठुकरा दिया, जो उन्होंने अपने कठोर श्रम और अपने राजनीतिक साहस से अर्जित किया था? उस सिद्धांतवादी महिला की कहानी कहें, जिसने दिखा दिया कि सनक और पाखंड से ग्रस्त पेशे में भी उचित मूल्यों के लिए खड़ा हुआ जा सकता है?

इस पहेली को सुलझाने के कई प्रयास हुए। स्पेन के उपन्यासकार जेवियर मोरो के सनसनीखेज 'द रेड सारी' से कांग्रेस के राजनेता केवी थामस के 'सोनिया प्रियंकारी' तक सोनिया गांधी की कहानी है लेकिन, इससे भी अधिक बहुत कुछ है। किसी को उनके विदेशी होने पर हुए विवाद से हिचकना नहीं चाहिए। यह मुद्दा 1990 के दशक के मध्य से उत्तरार्ध तक चला और 2004 में फिर उठाया गया। यह विवाद कई पहलुओं से रोचक था अौर खासतौर पर तब जब इसका संबंध उस भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से है, जिसकी स्थापना स्काटलैंड में जन्मे पहले अध्यक्ष एलन अॉक्टोवियन ह्यूम ने 1885 में की थी और इसके सबसे माननीय नेताओं (और निर्वाचित अध्यक्षों) में मक्का में जन्मे मौलाना अबुल कलाम आजाद, आयरिश महिला एनी बेसेंट और अंग्रेज विलयम बेडरबर्न और नेली सेनगुप्ता शामिल हैं। इससे भी विचित्र बात तो यह है कि इसमें कांग्रेस के महानतम नेता महात्मा गांधी के दृष्टिकोण का खंडन है, जिन्होंने पार्टी को उस भारत का छोटा प्रातिनिधिक स्वरूप देने का प्रयास किया, जिसमें उन्होंने विभिन्न विचारों का श्रेष्ठतम स्वरूप देखा। सोनिया गांधी ने खुद पार्टी नेतृत्व संभालते वक्त अपना पक्ष रखते हुए ध्यान दिलाया था, 'मैं विदेश में जन्मी पर भारत को मैंने अपना देश चुना है। मैं भारतीय हूं और अंतिम सांस तक यही रहूंगी। भारत मेरी मातृभूमि है और यह मुझे अपनी ज़िंदगी से भी अधिक प्रिय है।' लेकिन, असली मुद्दा तो यह था कि कौन प्रामाणिक भारतीय है इसका फैसला हमें दलों के नेताओं पर छोड़ना चाहिए या व्यापक मतदाता वर्ग को करने देना चाहिए? 'हम' और 'वे' पर जोर देना निकृष्टतम किस्म की सोच है, जो राष्ट्रीय मानस को विषैला बना सकती है। कांग्रेस के नेतृत्व में भारत ने हमेशा 'एकता में अनेकता' का घोष किया है। यह भूमि अपने नागरिकों पर कोई संकुचित मर्यादाएं नहीं थोपती। आप गोरे हो सकते हैं, साड़ी पहन सकते हैं, इतालवी

भाषी हो सकते हैं और पल्लकड़ में रह रही मेरी दादी के लिए आप उससे ज्यादा 'विदेशी' नहीं होंगे, जो पंजाबी बोलती है, सलवार कमीज पहनती है और गेहूंए रंग की है। देश इन दोनों प्रकारों को समायोजित कर लेता है।

हमारे संस्थापक नेताओं ने अपने सपनों का संविधान लिखा; हमने उनके आदर्शों को मान्य किया। जन्म से भारतीय अथवा स्वाभाविक प्रक्रिया में भारतीय बने व्यक्ति को भारतीयता के विशेषाधिकार से वंचित करना न सिर्फ घातक है बल्कि यह भारतीय राष्ट्रवाद की धारणा का जानबूझकर किया गया अपमान है। ऐसा भारत जो हम में से कुछ को खारिज करता है, उसकी परणति हम सबके खारिज होने में हो सकती है। लेकिन, ये सारे मुद्दे अब सिर्फ ऐतिहासिक रुचि के रह गए हैं, क्योंकि कई चुनावों में राष्ट्र ने इसका निराकरण कर दिया है। सोनिया गांधी के पार्टी व गठबंधन के नेतृत्व को स्वीकारा है। अब जब वे पद छोड़ रही हैं तो उनकी विरासत क्या है? उन्होंने विचारों की राष्ट्रीय बहस में कांग्रेस के स्थान को पुनर्परिभाषित किया है। देश की समृद्ध बहुलता व विविधता के लिए अडिग प्रतिबद्धता ने पार्टी को उन दलों से अलग स्थान दिया, जो पहचान, जाति या धर्म के आधार पर विभाजन की राजनीति करते हैं। कांग्रेस ही ऐसी पार्टी बनी हुई है, जिसका सच्चा समावेशी राष्ट्रीय विज़न है।

दबे-कुचले वर्गों के प्रति सहज सहानुभूति ने विकासशील देशों के इतिहास में पहली बार भोजन, काम, शिक्षा के अधिकार के कानून जैसे दूरगामी कदमों की प्रेरणा दी। सूचना का अधिकार, लोकतंत्र व सरकार की जवाबदेही के प्रति उनके समर्पण का परिणाम है। इसने भारतीय शासन में अप्रत्याशित स्तर की पारदर्शिता ला दी है। जहां एनडीए ने ' इंडिया शाइनिंग' की बात की बिना खुद से यह पूछे कि भारत किसके लिए चमकेगा और वामपंथ ने प्रगतिशील कदमों का विरोध किया, जो आर्थिक तरक्की को बढ़ावा दे सकते थे। वहीं सोनिया गांधी के नेतृत्व में यूपीए ने आर्थिक वृद्धि और सामाजिक न्याय दोनों के लिए काम किया, जिसे कांग्रेस ने समावेशी तरक्की कहा। वर्ष 2014 में सोनिया गांधी ने एक पत्रकार से वार्ता में टिप्पणी की थी कि उनके जीवन की सच्ची कहानी के लिए उनकी किताब का इंतजार करना होगा, जो वे किसी दिन लिखेंगी। अब जब वे 71 वर्ष की हो गई हैं और पद छोड़ रही हैं तो मैं लाखों लोगों के साथ मिलकर यह कहना चाहूंगा कि अब मैं उनके किताब लिखने का और इंतजार नहीं कर सकता।

Date: 14-12-17

दुनिया की खाद्य सुरक्षा के आड़े आते धनी देशों के हित

विकासशील देश इसे अमीर देशों की तरफ से उठाया गया नया मुद्दा मानते हैं।

संपादकीय

वर्ष 2008के बाद भारी दबाव में चल रहा विश्व व्यापार संगठन ब्यूनस आयर्स के मंत्री स्तरीय सम्मेलन में भी खाद्य सुरक्षा के मसले पर दबाव में गया है। अगर अमेरिका ने भारत और कई विकासशील देशों की सार्वजनिक भंडारण प्रणाली पर अपना कड़ा रुख जारी रखा और खाद्य सुरक्षा के स्थायी समाधान की बजाय किसी कमतर उपाय पर जोर दिया तो चार दिनों का यह मंत्री स्तरीय सम्मेलन बिना किसी नतीजे पर पहुंचे ही निपट जाएगा। भारत और उसके साथ खड़े डब्ल्यूटीओ के बहुसंख्यक देश चाहते हैं कि सार्वजनिक भंडारण, न्यूनतम समर्थन मूल्य और खाद्य सुरक्षा पर उन

प्रतिबद्धताओं का पालन किया जाए, जो 2013 में बाली में और 2015 में नैरोबी के मंत्री स्तरीय सम्मेलन में व्यक्त की गई थीं। बाली सम्मेलन में शामिल किए 'शांति अनुच्छेद' के तहत अगर सरकार सार्वजनिक खरीद के 10 प्रतिशत के स्थापित मानक से ज्यादा जमा करती है तो भी उस पर कार्रवाई नहीं की जाएगी। दूसरी तरफ अमेरिका को इस पर कड़ी आपत्ति है। खाद्य सुरक्षा का यह विवाद उस समय और भी बड़ा हो जाता है जब अफ्रीका के कई देश मुख्य अनाजों के साथ खाद्य के अन्य पदार्थों की खरीद की छूट मांग रहे हैं और अमेरिका जैसे देश उसे सीमित करना चाह रहे हैं। इसलिए सवाल यह भी है कि सार्वजनिक खरीद सिर्फ गेहूं और चावल की ही होनी चाहिए या दूसरे भोज्य पदार्थों की। मौजूदा विवाद में विकासशील देशों की मांग है कि धनी देश खेती की सब्सिडी घटाएं जबकि अमेरिका, यूरोपीय संघ, जापान, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया चाहते हैं कि ई-कॉमर्स और निवेश सुविधा को बढ़ावा दिया जाए। विकासशील देश इसे अमीर देशों की तरफ से उठाया गया नया मुद्दा मानते हैं और वे इसे छोटे विक्रेताओं के विरुद्ध एमेजॉन जैसी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हित में उठाया गया कदम मानते हैं। भारत 2013 के खाद्य सुरक्षा अधिनियम से भी बंधा हुआ है और वह खाद्य भंडारण में होने वाले भारी खर्च के बावजूद इसकी राजनीतिक अहमियत को समझता है। यह प्रणाली सूखा, अकाल और दूसरी प्राकृतिक आपदाओं की स्थिति में नागरिकों का जीवन तो बचाती ही है विश्व व्यापार को स्थिरता प्रदान करती है। जाहिर है कि कोई भी वैश्विक प्रणाली बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय पर ही चल सकती है और अगर वह स्वजन हिताय पर जोर देगी तो वह अपने ही बोझ तले दब जाएगी।

दैनिक जागरण

Date: 14-12-17

लंबित मामलों का निपटारा

संपादकीय

केंद्र सरकार ने आपराधिक गतिविधियों में लिप्तता के आरोपों का सामना कर रहे जनप्रतिनिधियों के मामलों का निस्तारण करने के लिए विशेष अदालतें गठित करने का जो प्रस्ताव सुप्रीम कोर्ट के समक्ष पेश किया उस पर जल्द फैसले की उम्मीद की जाती है, क्योंकि इस मसले पर पहले ही देर हो चुकी है। यह अच्छा हुआ कि पहले दागी नेताओं के मामलों की सुनवाई की अलग से व्यवस्था करने के सुझाव से असहमत सुप्रीम कोर्ट अब यह महसूस कर रहा कि राजनीति के अपराधीकरण पर लगाम लगाने की आवश्यकता है और यह काम दागी जनप्रतिनिधियों के मामलों के निस्तारण पर ध्यान देकर ही किया जा सकता है। फिलहाल यह कहना कठिन है कि सुप्रीम कोर्ट विधि मंत्रालय के प्रस्ताव पर सहमत होता है या नहीं, लेकिन इसका कोई औचित्य नहीं कि गंभीर आरोपों से घिरे नेता विधानमंडलों में आसीन रहें। विधानमंडलों में ऐसे नेताओं की मौजूदगी राजनीति के अपराधीकरण को बल देने का ही काम करती है। एक आंकड़े के अनुसार इस समय करीब डेढ़ हजार सांसद और विधायक ऐसे हैं जो आपराधिक मामलों से घिरे हैं। यह आंकड़ा इन नेताओं के चुनावी हलफनामे के आधार पर तैयार किया गया है। इससे इन्कार नहीं कि तमाम विधायक एवं सांसद ऐसे हैं जिन पर संगीन आरोप हैं, लेकिन सभी को एक ही तराजू से नहीं तौला जा सकता। कई मामले सामान्य किस्म के भी हो सकते हैं। विडंबना यह है कि आपराधिक मामले चाहे सामान्य हों या गंभीर, उनके निस्तारण की गति धीमी ही

रहती है। एक समस्या यह भी है कि कई बार विशेष और यहां तक कि फास्ट ट्रैक अदालतें भी मामलों का निस्तारण करने में लंबा समय ले लेती हैं। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि न्यायिक प्रक्रिया के तौर-तरीकों में अपेक्षित बदलाव और सुधार नहीं हो पा रहा है। परिणाम यह है कि हर तरह के मुकदमों का अंबार लगता जा रहा है।

आज स्थिति यह है कि एक ओर सरकार में बैठे लोग बड़ी संख्या में लंबित मुकदमों का उल्लेख करते रहते हैं और दूसरी ओर सरकारें ही अपने लोगों के खिलाफ मुकदमेबाजी में उलझती रहती हैं। क्या यह विचित्र नहीं है कि सबसे बड़ी मुकदमेबाज राज्य सरकारें ही हैं? बेहतर हो कि जहां सरकारें यह देखें कि नौकरशाह बात-बात पर अदालत पहुंचने से बाज आएं वहीं न्यायपालिका भी मामलों के जल्द निस्तारण के वैकल्पिक तौर-तरीके खोजे। इसके तहत आपराधिक मामलों के साथ-साथ अन्य सभी तरह के मामलों के त्वरित निस्तारण पर ध्यान दिया जाना चाहिए। हालांकि एक अर्से से यह महसूस किया जा रहा है कि विभिन्न क्षेत्रों के लिए अलग-अलग न्यायाधिकरण बनाए जाने की जरूरत है, लेकिन कोई नहीं जानता कि इस दिशा में आगे क्यों नहीं बढ़ा जा रहा है? चंद दिनों पहले सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश ने एक सम्मेलन में इस पर जोर दिया था कि विवादों के निपटारे की वैकल्पिक प्रणाली के तौर पर संस्थागत मध्यस्थता महत्वपूर्ण साबित होगी। उनका यह भी मानना था कि मध्यस्थता के जरिये विवादों को सुलझाने में अधिकतम निपटारे और न्यूनतम निपटारे के सिद्धांत के हिसाब से काम किया जाना चाहिए। बेहतर हो कि अब ऐसे सभी विचारों को अमल में लाया जाए।

जनसत्ता

Date: 13-12-17

सहमति और संशय

संपादकीय

भारत, रूस और चीन के विदेशमंत्रियों की सोमवार को नई दिल्ली में हुई बैठक सकारात्मक ही कही जाएगी। इस बैठक की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि तीनों देशों ने पहली बार आतंकवाद के खिलाफ समान दृष्टिकोण और एकजुटता का इजहार किया है। भारत की विदेशमंत्री सुषमा स्वराज, चीन के विदेशमंत्री वांग यी और रूसी विदेशमंत्री सर्गेई लावरोव के बीच हुई बातचीत में यों तो आपसी कारोबार समेत अन्य मुद्दों पर भी चर्चा हुई, पर आतंकवाद का मुद्दा ही प्रमुख रहा। तीनों देशों ने आतंकवाद के हर स्वरूप की निंदा करते हुए मिलजुल कर इसे रोकने और इसका मुकाबला करने का प्रस्ताव पारित किया है। तीनों देशों के विदेशमंत्रियों की पंद्रहवीं बैठक के बाद जारी साझा बयान में दुनिया के दूसरे देशों का भी आह्वान किया गया है कि वे आतंकवाद के हर रूप की निंदा करें और आतंकवाद को रोकने और उसको माकूल जवाब देने की प्रतिबद्धता दोहराएं। तीनों देशों ने संयुक्त राष्ट्र में अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद पर समग्र संधि (सीसीआइटी) को जल्द स्वीकार करने का भी आह्वान किया, ताकि वैश्विक आतंकवाद से निपटने के लिए अंतरराष्ट्रीय कानूनी ढांचा तैयार किया जा सके। सारी बातचीत के लब्बोलुआब और साझा बयान से आतंकवाद के मसले पर भारत के रुख की पुष्टि ही हुई है। पर सहमति की सतह के नीचे संशय की मौजूदगी को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। यह संशय चीन के अब तक के रवैए की वजह से है।

गौरतलब है कि चीन ने पिछले महीने के शुरू में, जैश-ए-मोहम्मद का नाम आतंकवादी संगठनों की सूची में शामिल करने की ब्रिक्स घोषणापत्र में जताई गई सहमति के कोई दो महीने बाद, जैश के सरगना मसूद अजहर को प्रतिबंधित करने के प्रस्ताव को पलीता लगा दिया था। पिछले साल से यह चौथी बार था जब मसूद अजहर का बचाव चीन ने किया। चीन के शियामेन शहर में सितंबर में हुई ब्रिक्स बैठक में संबंधित देशों का प्रतिनिधित्व उनके राष्ट्राध्यक्षों ने किया था। इसलिए स्वाभाविक ही ब्रिक्स की इस बैठक में बनी सहमति को ज्यादा अहमियत दी गई। लेकिन भारत को जल्दी ही निराश होना पड़ा। आरआइसी यानी रूस, भारत और चीन के विदेशमंत्रियों की ताजा बैठक में बनी सहमति की भी सच्चाई छिपी नहीं रह सकी है। भारत की विदेशमंत्री ने भी, आतंकवादी संगठनों का जिक्र करते समय जैश-ए-मोहम्मद का नाम नहीं लिया। खुद सुषमा स्वराज ने बताया कि आतंकवाद की चर्चा करते हुए उन्होंने तालिबान, अल कायदा, आइएस और लश्कर-ए-तैयबा जैसे आतंकी संगठनों की गतिविधियों में बढ़ोतरी के संदर्भ में अपनी बात रखी। लेकिन जैश-ए-मोहम्मद का नाम क्यों छूट गया? क्या यह सिर्फ संयोग से हुई चूक थी, या चीन के अब तक के रवैए को ध्यान में रख कर उन्होंने जैश का नामोल्लेख नहीं किया।

हर अंतरराष्ट्रीय बैठक या सम्मेलन के मौके पर आतंकवाद से मिलजुल कर लड़ने की कसम खाई जाती है। यह एक कूटनीतिक चलन-सा हो गया है। यहां तक कि पाकिस्तान भी ऐसे अनेक अंतरराष्ट्रीय संकल्पों में शामिल हो चुका है। खुद इस्लामाबाद में जारी हुए सार्क के एक घोषणापत्र ने दो टूक एलान किया था कि सार्क का कोई भी सदस्य-देश आतंकवादी गतिविधियों के लिए अपनी जमीन का इस्तेमाल नहीं होने देगा। सार्क में सर्वसम्मति से पारित इस संकल्प के बरक्स हकीकत क्या रही है, दुनिया जानती है, और भारत तो उसका भुक्तभोगी ही है। इसी तरह का विरोधाभास अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद के खिलाफ अमेरिका की लड़ाई में भी दिखता है। अमेरिका की अगुआई वाले आतंकवाद विरोधी अंतरराष्ट्रीय गठबंधन में पाकिस्तान भी शामिल रहा है। दुनिया के दूसरे सबसे ताकतवर देश यानी चीन का रवैया जैश-ए-मोहम्मद और मसूद अजहर के मामले में हम कई बार देख चुके हैं। आतंकवाद विरोधी अंतरराष्ट्रीय रणनीति की अनेक खामियां हो सकती है, पर सबसे बड़ी खामी है दोहरा मापदंड और चुनिंदा कार्रवाई। यह खामी ही आतंकवाद विरोधी अंतरराष्ट्रीय संकल्पों की राह की सबसे बड़ी बाधा है।

THE HINDU

Date: 13-12-17

Human rights and Indian values

Neither civilisational ethos nor the mere enshrining of constitutional morality is enough to deliver on basic rights

Pulapre Balakrishnan teaches economics at Ashoka University, Sonipat, Haryana and the Indian Institute of Management, Kozhikode, Kerala

Dadri, Alwar and Rajsamand are names that must ring a bell for every aware Indian. In a little more than a year these have been sites where a fellow citizen has been brutally murdered by another Indian. They

should be a source of deep shame to us as these were not random events. In every case the victim was a Muslim from the poorest sections of our country. Mohammad Akhlaq, Pehlu Khan and Afrazul Khan were murdered for the identity assigned to them and the alleged guilt that is thereby claimed to cling to them.

Acts of hate

Union Minister for Minority Affairs Mukhtar Abbas Naqvi was quick to respond to the murder of Afrazul Khan stating that it should not be seen as religiously motivated but as a criminal act. Not only is this difficult to sustain given the explanation by Afrazul Khan's assailant that he was only seeking revenge for "cross-community" marital relationships but it also ignores a pattern in the three killings in question. In all cases the murders have been justified in the name of injuring the sensibilities of Hindus. They are, for all to see, unmistakably acts of hate committed against a member of a religious minority.

Four days after the killing of Afrazul Khan on December 6, India celebrated Human Rights Day. December 10 is the anniversary of the adoption of the Universal Declaration of Human Rights by the UN General Assembly. As an early supporter of the UN movement and a constant participant in its deliberations, India has, in international fora, constantly endorsed the charter of rights that the declaration unfurled.

On December 10, at an official ceremony at Delhi's Vigyan Bhavan Vice-President Venkaiah Naidu said two noteworthy things. He first affirmed India's commitment to human rights emphasising the duty of governments to ensure them to individuals. Second, he observed that human rights existed in India not due to some constitutional morality but because of the DNA of Indian civilisation. To clarify what he meant he chanted from the Upanishad "Sarve Janaha Sukhino Bhavantu", loosely translated as "May all be happy".

The Vice-President was obviously referring to the many assurances of the freedom of thought and expression and the right to life and liberty in the Constitution, suggesting that their provenance lies in the immemorial history of the country's civilisation. While there may be a grain of truth in this observation it doesn't count for much when it comes to repeated violation of human rights in India, of which the murders of Mohammad Akhlaq, Pehlu Khan and Afrazul Khan are instances.

Role of government

In the light of these violations, it may have been more helpful if the Vice-President had said that the constitutional provisions are inadequate by themselves and the role of government is fundamental in advancing them. In fact, it is precisely because we cannot rely on civilisational values that may or may not be enshrined in the constitution to deliver us rights that we adopt democracy as the form of government.

Historically, votaries of civilisational values have struggled to break free of cultural prejudices and accord similar status to other civilisations. Not very long ago, colonialism had been justified on civilisational terms, with the very term "civilised" being used to differentiate the West from the indigenous populations of the lands colonised by Europe. It is perhaps this that led Gandhi to respond to the query of what he thought of Western civilisation by saying, "I think it would be a good idea." Gandhi is unlikely to have been any softer on champions of the superiority of eastern civilisations.

Civilisational hubris abounds in claims of "the inclusivity of Hinduism" or "the egalitarianism of Islam". Whatever be the exhortations in the texts that underlie these religions, the history of caste and gender inequality in India and Islamic societies, respectively, show them to have been neither inclusive nor

egalitarian. It is clear that civilisational values, in our case Indian, are far from sufficient to deliver us the rights that we seek to make our own.

Though the UN's declaration of human rights is expansive, in his speech the Vice-President took it further to include social and economic rights. It is clear that Indian civilisation has not had much success in ensuring their delivery. If any progress has at all been made in the desired direction, it has been after the adoption of a democratic form of governance; an arrangement that is distinctly non-Indian in its origins. In terms of human development, 21st century India is radically different from what it was in the 20th century. That economic inequality has steadily risen and ecological stress is written all over the country cannot take away from the fact that there has been progress of a form that has collapsed social distance. The rise to the prime ministership of India of Mr. Narendra Modi is the best testament to this. There is social churning in India, with some of it having come through affirmative action and some of it through economic transformation in which the more recent liberalisation of the economy has had some role.

However, as India has managed to shed some of the centuries old practices that maintained social distance due to caste and economic differentiation, newer axes of power have emerged. We have begun to see an unimaginable rise of violence against women and Muslims. Hardening patriarchy and Hindu chauvinism are India's unanticipated demons. These have taken us by surprise, and as a society we appear to be incapable of handling them.

Ways to tackle intolerance

Our task of ensuring human rights in India is, however, made no more easy after rejecting the potential of civilisational values and of the instrumentality of economic growth combined with constitutional morality in achieving such a state. While "constitutional morality", a term used by Ambedkar to appropriately reject any role for "societal morality" in the Republic, is of course a useful guide to the courts when it comes to adjudicating between individuals, it is by itself helpless in preventing acts of violence. The efficacy of constitutional provisions is entirely dependent on the government machinery entrusted to our elected representatives. An effective protection of individuals, in this case women and minorities, from acts of violence requires the power of the state to weigh in on their side. In too many cases of violence against women, Muslims and Dalits, the Indian state is distinguished by its absence.

In a recent paper Canada-based economist Mukesh Eswaran demonstrated that it is possible to understand "9/11" and home-grown terrorism in western Europe as a response to the historical wrongs inflicted on Muslim societies by Western powers, notably the invasion of Iraq. This is a useful corrective to the collective gasp of incredulity let out by Western elites when addressing the violence unleashed against them by Islamic groups. Transferring Eswaran's reasoning to the Indian context, one might argue that India should contain violence against its Muslims to ensure the safety of Hindus. But such crass instrumentalism would be unworthy of a great civilisation. We want to ensure the flourishing of all the peoples of India not out of self-preservation but because we want to be civilised. Vasudhaiva Kutumbakam, anyone?